# मुक्तिबोध की कविताई अर्थवत्ता

## रामआह्लाद चौधरी

मुक्तिबोध की दृष्टि व्यापक है। उनकी कविताओं के विजन से यह पता चलता है कि जो दिख रहा है, वह वास्तविक नहीं है, हर चीज को बनाकर प्रस्तुत करने की ऐसी स्थिति बेवजह बनायी जाती है, जिसे देखकर घिन आती है। लेकिन मानव क्या करे, मनुष्य आगे बढ़ने की तैयारी किस रूप में करे। मुक्तिबोध की कविताओं को पढ़ने से जिस सरलता का बोध होता है, उस सरलता की पहचान सिर्फ मुक्तिबोध की रचनाओं में ही संभव है।

मानव सभ्यता के इतिहास में बार-बार यही कहा गया है कि सच को सही ढंग से उपस्थित करने की जरूरत होती है। पर सच तो ढंकने के विभिन्न तरीके होते हैं; पूरे समाज को सच से काट कर अलग कर दिया जाता है। आखिर यह काम कौन करता है और इस काम को करने के पीछे किस राज को छिपाने की कोशिश की जाती है। मुक्तिबोध ने बार-बार समाज को एक सतह पर लाकर खड़े करने की हिम्मत दिखाई है। दरअसल रचनात्मक प्रक्रिया में दृष्टि होगी, तो वह प्रक्रिया भीतर ही भीतर सामाजिक बदलाव को एक ऊँचा दर्जा देने का प्रयास करती है। उसी का जीवंत सबूत मुक्तिबोध की कविताएँ हैं।

यह प्रयास एक तरफ जहाँ समाज के हाशिये पर पड़े लोगों को मुख्यधारा से जोड़ने का काम करता है,वहीं दूसरी तरफ मुख्यधारा से जुड़े मठाधीशों को यह महसूस कराता है कि शायद उनके पैरों के तले की जमीन खिसकने लगी है। यह तब पता चलता है, जब मुक्तिबोध कविता को सच की अभिव्यक्ति के प्रमुख साधन के तौर पर उपस्थित करते हैं। कविता-लेखन में यह प्रक्रिया मुक्तिबोध की महान देन है। यह काम वही कर सकता है, जिसने वस्तुनिष्ठ को स्थापित करने के लिए रचनात्मक संघर्ष किया है। दरअसल कविता के अंतर्गत वस्तुनिष्ठता को रखना कठिन ही नहीं बल्कि युगीन सच्चाइयों के अनुरूप एक नया प्रतीक बनाना है। कभी-कभी उस प्रतीक का स्वरूप भी नहीं स्पष्ट हो पाता है, इसके बावजूद बयान स्वतः स्पष्ट होता है। यथा : "गढ़े जाते संवाद/गढ़ी जाती समीक्षा/गढ़ी जाती टिप्पणी जन-जन-उर-शूल।"



Scanned with CamScanner

और ऐसा होता है क्यों? यह अहम् सवाल है। इस सवाल का जवाब भी मुक्तिबोध ने दिया है, जैसा कि उन्होंने लिखा है : 'बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास/किराए के विचारों का उद्‌भास/बड़े-बड़े चेहरों पर स्याहियां पुत गईं।/नपुंसक श्रद्धा/सड़क के नीचे गटर में छिप गई/कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई।'

यदि बौद्धिक वर्ग क्रीतदास बनेगा, तो उस समाज में गोली चलना, आग लगना स्वाभाविक है। इस वास्तविकता को भी देखने की जरूरत है। अराजक शक्ति जहां आग लगाती है, वहां शासन पर सवार कठमुल्ला गोली चलाता है। उसे गोली चलाने के लिए कहीं दूसरी जगह नहीं दिखाई देती है। अपराधी को नहीं पकड़ा जाता है, उसके बदले अपराधी के नाती को गिरफ्तार किया जाता है, जो मतदान देने की उम्र तक भी नहीं पहुँचा है। नयी पीढ़ी तैयार करने के नाम पर गोबर करने वालों की कमी इसलिए इस समाज में नहीं दिखाती है, क्योंकि बौद्धिक वर्ग की जीभ काफी लंबी हो गयी है।

बौद्धिक वर्ग के नाखून और जीभ इसलिए बढ़ गये हैं; क्योंकि वह वर्ग लोभ-लालच के माया-जाल में फंस गया है। उससे बाहर निकलना उसके लिए असंभव है। इस असंभव कार्य को अंजाम देने वालों की कमी नहीं है, जो इस असंभव कार्य में जुड़ जाता है, वह भी बौद्धिक वर्ग का आला बन जाता है। पर उसमें आला बनने के गुण नहीं दिखते, उसके एक भी कार्य सफल नहीं हो पाते, एक के बाद एक कार्य में वह परास्त दिखता है। उसके दोनों हाथ उठे ही रह जाते हैं। यथा : 'धड़कता है दिल/कि पुकारने को खुलता है मुंह की अकस्मात···/ वह दिखा, वह दिखा/वह फिर खो गया किसी जन-यूथ में···/उठी हुई बाँह यह उठी हुई रह गई!!' वह उपस्थित होकर कहीं नहीं दिखता है, क्योंकि उसको खोजना असंभव है। कवि मुक्तिबोध उसे खोजने की कोशिश करते; लेकिन वे उसे नहीं खोज पाते हैं।

**किया पीड़ात्मक रेखांकन :**

अंधेरा इतना घना बन जाता है कि वह दिखता ही नहीं है। वह आत्म संभवा बनने में जुट जाता है। सही अर्थों में जीवन जीने के लिए अंधेरे की वास्तविकता की आवश्यकता है। इस आवश्यक कार्य को अंजाम देने के लिए 'खोये' को पाना सरल ही नहीं संभव भी है। इस संभवा को मुक्तिबोध ने इस तरह देखने का प्रयास किया है ····· 'खोजता हूँ पठार····· पहाड़ ···· समुंदर/जहाँ मिल सके मुझे/मेरी वह खोई हुई/परम

Scanned with CamScanner

अभिव्यक्ति अनिवार/आत्म संभवा।'

मुक्तिबोध को महान् बनाने के पीछे उनकी प्रसिद्ध कविता 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' का सबसे बड़ा हाथ है। इस कविता पर दुरूहता का आरोप लगाया गया है। हिंदी कविता की जो आलोचना की गयी है, उस आलोचना के अंतर्गत आरोप-प्रत्यारोप को गंभीरता से नहीं लिया गया है। यदि आरोप-प्रत्यारोप को गंभीरता से लेते हुए मुक्तिबोध की कविता की आवृत्ति की जाय, तो स्पष्ट होगा कि मुक्तिबोध की कविताएं, समाज के लिए कितनी उपयोगी हैं। सिर्फ उपयोगी ही नहीं; कर्ण प्रिय भी हैं। इसलिए कि मुक्तिबोध की कविताओं में जबर्दस्त प्रयोग हुआ है। वह प्रयोग सिर्फ क्रियात्मक प्रयोग तक ही सीमित नहीं है; उस प्रयोग की सीमा संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया-विशेषण को छूती हुई आगे बढ़ती है।

शायद ही कोई ऐसा कवि हो, जो उस तात्कालिक समय को संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया विशेषण के जरिये उपस्थित करता हो। गिनाने के नाम पर दर्जनों कवियों के नाम लिये जा संकते हैं, जिनके कार्यों की सराहना की जा सकती है। सत्ता के गलियारे में गमछे ओढ़े उन्हें देखा जा सकता है, पर उन कवियों की कविताओं में भारी आवाज के अलावा और क्या सुनाई पड़ता है?

नये बिम्ब लाने के नाम पर उन कवियों ने कविता से खिलवाड़ किया है, क्योंकि उनकी मानसिकता ही कुछ अजब किस्म की दिखती है, क्योंकि उस युग की पीड़ा को बर्दाश्त करने की क्षमता उन कवियों में नहीं दिखती है। इसलिए उन कवियों ने पीड़ा को 'आह' में तब्दील करने के बदले कविता को ही पीड़ात्मक अंकन में बदल दिया है।

फलस्वरूप कविता से पाठक दूर होने लगे और मुक्तिबोध जैसे कवियों ने जब वस्तुनिष्ठता की वकालत शुरू की, तब तथाकथित कविता के आलोचकों ने हल्ला शुरू किया कि मुक्तिबोध ने कठिन लिखा है; यही कहा जाय कि मुक्तिबोध को कठिन का पर्याय मान लिया गया। इसके पीछे उन आलोचकों की एक ही मंशा थी कि पाठकों के बीच मुक्तिबोध को इस रूप में पेश किया जाय कि पाठकों और मुक्तिबोध के बीच छत्तीस का आंकड़ा पैदा हो जाय। क्या सब कुछ तथाकथित आलोचक ही तय कर देते हैं। इस सवाल का एक ही जवाब है; नहीं! जिन पाठकों को इस जवाब में विश्वास है, वे निश्चित तौर पर कहेंगे कि चांद का मुंह टेढ़ा है; पर जिन पाठकों को इस जवाब में

Scanned with CamScanner

विश्वास नहीं है, वे यही कहेंगे कि क्या चांद का मुँह टेढ़ा होगा? मुक्तिबोध ने इन दोनों स्थितियों का सही जायजा लेते हुए बिल्कुल सही लिखा है कि जो मनुष्यों की अस्थियों की राख की क्षमता से अवगत है, जो जमाने के चेहरे को देख पाता है, वही चांद के मुँह की वास्तविक बनावट का अंदाज लगा सकता है।

**देखी अंधेरे की साख :**

मुक्तिबोध ने वर्तमान की परिभाषा को इस कविता में यानी 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' शीर्षक कविता में लिखा है– 'चाँद का मुँह टेढ़ा है/इसीलिए आजकल/दिन के उजाले में भी अंधेरे की साख है/इसीलिए संस्कृति के मुख पर/मनुष्यों की अस्थियों की राख है/ जमाने के चेहरे पर/गरीबों की छातियों की खाक है!!' हिम्मत के बिना इस समाज में जीना असंभव है। हिम्मत लाने या जुटाने पर प्रकाश देते हुए उन्होंने बताया है– 'आसमान निलाई मिलाई जाए/सुबह की किरनों में/रात्रि के गृह दीप–प्रकाश की आशाएं घोलकर/हिम्मतें लाई जाएँ।'

गजानन माधव मुक्तिबोध ने हिंदी कविता को एक 'सतह' पर पहुँचाने का प्रयास किया। उनकी दिली ख्वाहिश थी कि हिंदी कविता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित हो। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कविता को स्थापित करने के उद्देश्य से मुक्तिबोध ने कविता–प्रेमियों के मानसिक–परिष्कार को दीप्त किया। इसीसे कविता लिखने और कविता पढ़ने की एक प्रथा शुरू हो जाती है। यह सच है कि प्रथा अचानक नहीं बनती है, उसके पीछे बनने के कई कारण हो सकते हैं। उन कारणों की समीक्षा करना निश्चित रूप से काव्य-आलोचना का कार्य है। काव्य–आलोचना के जरिये कविता को नया जामा मिलता है। यही कारण है कि मुक्तिबोध ने एक तरफ कविताओं के अंतर्गत नये–नये बिम्ब को प्रस्थापित किया; नये–नये प्रतीकों के जरिये युगीन सच्चाइयों को सामने रखने का कारगर प्रयास किया। वह प्रयास जब उन्होंने आरंभ किया, तब उन पर सौंटे बरसने लगे। आश्चर्य यह होता है कि सौंटे बरसाने वाले दूसरे शिविर के कम 'महाप्रभु' थे, जब कि अपने शिविर के महारथियों ने जरूरत से ज्यादा ही कह डाला। यहाँ तक कि काव्य-आलोचना के नाम पर मुक्तिबोध को व्यक्तिगत हमलों का भी शिकार होना पड़ा। सवाल उठता है कि व्यक्तिगत हमले कौन करते हैं तथा उन हमलावरों का मकसद क्या होता है? इन दोनों सवालों पर प्रगतिकारों से लेकर प्रगतिशीलों तक ने बार–बार जवाब दिया

Scanned with CamScanner

है। चीख-चीखकर विद्वानों ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि न चीखने से दुनिया बदलती है और न भागने से दुनिया में कोई सार्थक बदलाव होता है। इसके लिए व्यापक पैमाने पर जद्दोजहद की आवश्यकता होती है। कविता प्रक्रिया और उस प्रक्रिया की परम्परा को बदलने के लिए महती भूमिका अदा करते हुए यह सिद्ध कर दिया कि जब तक हिंदी कविता को नया आधार नहीं दिया जायेगा तब तक हिंदी कविता को विश्व फलक पर पहुँचाना असंभव है। इस असंभव कार्य को मुक्तिबोध ने अपने अनुभवों के जरिये अंदाज देने की रचनात्मक लड़ाई लड़ी।

यह कहा जा सकता है कि जब व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर लड़ाई लड़ी जाती है, तब उस लड़ाई का महत्त्व उस रूप में नहीं दिखता है लेकिन याद रखने की जरूरत यह है कि मुक्तिबोध जब युगीन सच्चाइयों को नये प्रतीकों के जरिये वाणी देने लगे, तो क्या उसके पीछे उनकी वैयक्तिकता काम नहीं कर रही थी, तो उन पर जो व्यक्तिगत हमले हुए, उन हमलों पर विचार करना खासकर उनकी जन्मशती के मौके पर क्यों वाजीब नहीं है।

इस मौके पर भी मुक्तिबोध की कविताओं का सही विश्लेषण नहीं किया जा रहा है। आज भी उनकी कविताओं को तथाकथित तानाशाही प्रवृत्तियों के जरिये देखने की कोशिश की जा रही है। दरअसल मुक्तिबोध की कविताओं को बने-बनाये सूत्रों के आधार पर देखने की कोशिश की जाती है। इस कोशिश की सीमाएँ हैं, उन पर सीमाओं की चर्चा नहीं की जाती है। एक तरह से सपाट बयान दिया जाता है। सपाटबयानी के जरिये युगीन सच को समझना और जानना कठिन है। लेकिन मुक्तिबोध के काल के युगीन सच को देखने के लिए हिंदी काव्य-आलोचकों द्वारा गढ़े गये लिजलिजे मानदंडों के आधार पर ही मुक्तिबोध की कविताओं को समझने की कोशिश की गयी है। काव्य के सुधी विशेषज्ञ ही यह निर्णय ले सकते हैं कि आखिर कहां तक मुक्तिबोध की कविताओं के साथ न्याय हो पाया है।

**किया विश्व प्रतिभा का दर्शन :**

जब-जब मुक्तिबोध की कविताओं के विवेचन का सवाल उठेगा, तब-तब यह कहना अनुचित नहीं होगा कि युगीन सच को समझने के लिए मुक्तिबोध ने रचनात्मक मानदंड तैयार किया, जिस मानदंड के जरिये मुक्तिबोध की कविताओं ने निश्चित तौर

Scanned with CamScanner

पर विश्व-प्रतिभा को एक सतह देने की कोशिश की।

दरअसल जब तक इस विश्व में गलतियों को छिपाने के लिए तरह-तरह के औजार अपनाये जायेंगे, तब तक 'तजुर्बों की बुजुर्गी से भरे' सिपहसालार को सहमना ही पड़ेगा। यही युग की सच्चाई है, जिस तरफ मुक्तिबोध ने ध्यान खींचा है। 'भूल-गलती' मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता है, जिस कविता की चार पंक्तियां उपस्थित; 'दिल में अलग जबड़ा, अलग दाढ़ी लिए/दुमुँहेपन के सौ तजुर्बों से भरे,/दढ़ियल सिपहसालार संजीदा/सहमकर रह गए।'

सबसे बड़ी गलती यही है कि सिपहसालार को सहम कर रहना पड़ जाता है। क्या कारण है कि सारी ताकतों के बावजूद 'उसे' सहमना पड़ता है। इसका उत्तर वही खोज सकता है, जिसे यह पता है कि इस व्यवस्था की ऊपरी जगह पर कौन विद्यमान है, जिसने सब कुछ को हथिया लिया है। क्या वह सर्वोपरि है, क्या वह नहीं गिरेगा– इन सवालों के उत्तर को मुक्तिबोध ने 'लकड़ी का रावण' शीर्षक कविता में बेहतरीन ढंग से प्रस्तुत किया है; 'हाय, हाय, कुहरे की घनीभूत प्रतिमा या/भरमाया मेरा मन/उनके वे स्थूल हाथ/मनमाने बलशाली/लगते हैं खतरनाक;/जाने-पहचाने-से लगते हैं मुख वे।' सचमुच इस रावण के हाथ खतरनाक हैं और उसके मुंह पहचाना-पहचाना लगता है। पर वहीं अंतिम बात बोलने के लिए खड़ा नहीं, वह तो गिरने के लिए खड़ा दिखता है। कब गिर जाये, कोई नहीं जानता है। पर जब तक वह खड़ा है, तब तक उसके हाथ खतरनाक दिखते हैं; 'किंतु, वह फटे हुए वस्त्र क्यों/उसकी इतनी भयानक स्थिति क्यों है? रोटी उसे कौन पहुँचाता है/कौन पानी देता है?/फिर भी, उसके मुख पर स्मित क्यों है?/प्रचंड शक्तिमान क्यों दिखाई देता है?'

इस कविता को मुक्तिबोध ने एक अद्‌भुत रूप दिया है। उस रावण के मुंह से उसकी यथास्थिति को व्यक्त करने का साहस उसी कवि को मिल सकता है, जिस कवि ने समाज की विकासधारा की समझदारी को कविता में रखने का काम किया है। यह दुरूह बनाने की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि काव्य लेखन की एक और शैली को स्थापित करने का रचनात्मक संघर्ष है। इस रचनात्मक संघर्ष का महान दृष्टांत मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' है। कुछ जिज्ञासाओं के जरिये आधार स्थापित करना इस कविता की ताकत है। जिज्ञासाएँ मामूली हैं, क्यों वस्त्र फट गया, क्यों फटे हुए वस्त्र पहने हुए हैं,

Scanned with CamScanner

मुँह सुखा हुआ क्यों, स्थिति भयानक क्यों हो गयी, कौन रोटी देता है य कौन रोटी पहुँचाने का काम करता है, पानी देने वाला भी कोई है या नहीं– इसके बावजूद वह प्रचंड ताकतवर दिखता है। इसका एक जवाब है कि इतने सारे प्रश्नों से घिरे होने पर भी वह उस महान ताकतवर को धूल चटाने के लिए तैयार दिखता है। मुक्तिबोध ने 'वह' के फटे हाल की व्याख्या ही नहीं प्रस्तुत की है बल्कि उसके चित्रण पर आलोकपात करते हुए लिखा कि यह समाज नहीं चल सकता है। इसी कवित में उन्होंने आगे लिखा है– 'वर्तमन समाज चल नहीं सकता/पूंजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता,/ स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी/छल नहीं सकता मुक्ति के मन को,/ जन को।'

इस कविता में चित्र है, जो क्यों, कैसे, कौन जैसे प्रश्नों के जरिये अति बोधगम्य दिखता है। क्या कभी 'वह' की स्थिति में सुधार होगा या वह उसी तरह खड्डे में पड़ा रहेगा; था : 'आप चला जाएगा आया था जैसे/खड्डे के अंधेरे में मैं खड़ा रहूँगा/पीड़ाएँ समेटे!!' जिस व्यक्ति में पीड़ा समेटने की सूझ है, वह खड्डे में चाहे पड़ा रहे पर उसके पड़े रहने मात्र से उसके शत्रु-शिविर में खलबली मची रहती है। और यह धीरे-धीरे बढ़ती चली जा रही है। इस बारे में शोध करने की जरूरत है। दरअसल वही 'उसकी' परम अभिव्यक्ति है; यथा : 'वह चला गया है,/ वह नहीं आएगा, आएगा ही नहीं/अब तेरे द्वार पर/वह निकल गया है गाँव में शहर में!/उसको तू खोज अब/उसक तू शोध कर!/वह तेरी पूर्णतम परम अभिव्यक्ति।'

उस व्यक्ति में अंधेरे का अंदाज करने की क्षमता है। आँखों में सूंघने की ताकत के संदर्भ में मुक्तिबोध ने एक नया बिम्ब प्रस्तुत किया है; यथा : 'पैरों से महसूस करता हूँ धरती का फैलाव,/हाथों में महसूस करता हूँ दिशाएं/सांसों से अनुभव करता हूँ दुनिया/ मस्तक अनुभव करता है आकाश/दिल में तड़पता है अंधेरे का अंदाज,/आँखें ये तथ्य को सूँघती-सी लगतीं,/केवल शक्ति है स्पर्श की गहरी।'

**छटपटाहट के बीच उठने की जिद्द :**

चाहे जितनी सुगंध चारों तरफ रहे, पर छटपटाहट जारी है। इसका जिक्र करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है; यथा : 'मात्र सुगंध है सब रो,/पर, उस महक-लहर में/ कोई छुपी वेदना, कोई गुप्त चिंता/छटपटा रही है।' इस छटपटाहट में उठ खड़े होने की जिद्द है। हर स्थिति में कमजोर व्यक्ति उठना चाहता है, उसे रोकने वाला कौन है, कहीं से

Scanned with CamScanner

उठने के संकेत हालांकि न आये, पर मुक्तिबोध ने बरगद-पात को एक बिंब रूपायित करने का प्रयास किया है। बरगद के पत्ते को किसी की चिट्ठी समझकर बढ़ने का संदेशा देना ही मुक्तिबोध द्वारा इस अंधेरे को चीरना है। वह बरगद-पात पर बैठा है। कंधे पर बैठना दरअसल मुहावरा है। मुहावरा को प्रतीक में तब्दील करना मुक्तिबोध की विशेषता है; 'कंधे पर बैठ गया बरगद–पात एक, /क्या वह संकेत, क्या वह इशारा?/क्या वह चिट्ठी है किसी की?/बरगद आत्मा का पत्र है वह क्या?/कौन-सा इंगित?/चल रहा वसूला/छीले जा रहा मेरा यह निजत्व ही कोई/भयानक जिद कोई उठी मेरी ही अंदर, कोई बड़ा भारी हठ उठ खड़ा हुआ।'

यही उनका उद्घोष है कि पहले खुद को पहचानो; कहीं गुजर गये जमाने के चेहरे में तब्दीली तो नहीं हो गयी है। इसी कविता में मुक्तिबोध ने कहा : 'भाग जा/हम हैं गुजर गए जमाने के चेहरे/आगे तू बढ़ जा।' अभिव्यक्ति के खतरों को वही उठा सकता है जिसमें धँसने की काबिलियत है। मठ को तोड़ना सहज नहीं है। इस असहज कार्य को वही पूर्णता दे सकता है; जो सहजता को अपनाता है। अभिव्यक्ति को स्थान देने के लिए लड़ना पड़ता है। कोई ऐसा युग नहीं दिखता है, जिस युग में अभिव्यक्ति के सारे खतरे को उठाने की नौबत नहीं आयी हो। यह अलग बात है कि खतरे युग के अनुसार आते हैं और जिस तरह खतरे आते हैं, उसी तरह उसका मुकाबला करना पड़ता है। इस मुकाबले का चित्रण करते हुए मुक्तिबोध ने इस कविता में लिखा; 'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे/उठाने ही होंगे।/तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।/पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ के उस पार/तब कहीं देखने मिलेंगी हमको/नीली झील की लहरीली थाहें/जिसमें कि प्रतिफल काँपता रहता/अरुण कमल एक,/धँसना ही होगा।'

**अवैज्ञानिकता का विरोध किया :**

हीन समाज को एक स्तरीय सतह तक उठाने के लिए मुक्तिबोध का रचनात्मक संघर्ष सदा अमर रहेगा। जब तक वैयक्तिकता और अवैज्ञानिकता के खिलाफ संघर्ष नहीं किया जायेगा, तब तक समाज को एक स्तर तक उठाना नामुमकिन है। मुक्तिबोध ने कविताओं में सामाजिक जटिलताओं को व्यक्त करते हुए यह साबित करने का प्रयास किया है कि कविता को पोस्टर बनाना होगा। कविता को 'पोस्टर वार' बनाने के सिलसिले में मुक्तिबोध ने अनुभूति और संवेदना को अद्भुत हथियार के रूप में

इस्तेमाल किया है। कवि सिर्फ क्रिया के प्रयोग तक ही अपने-आपको सीमित नहीं रखता है। कवि प्रयोग के उन्मेष तक पहुँचने की कोशिश करता है; उसे हर तरह की सीमाओं के बंधन से मुक्त होना पड़ता है। जीवन को स्वच्छंद बनाना ही हीन समाज से संघर्ष करना है। इस हीन समाज में टुच्चापन ज्यादा है। सच यह है कि इस हीन समाज को जब तक नहीं बदला जाता है, तब तक अवैज्ञानिकता और वैयक्तिकता के विरुद्ध भी संघर्ष नहीं किया जा सकता है। इस समाज की हीनता के चलते ही आदमी के दर्द को समझना कठिन है।

आश्चर्य चकित करने वाला समाज है; जो जितना चालाक है, वह उतना बड़ा आदमी बनकर घूम रहा है, जब कि उस बड़े आदमी में आदमीयत के एक भी गुण नहीं पाये जाते हैं। इसके बावजूद अपने दुर्गुणों को छिपाने के लिए उसके पास सैकड़ों कुतर्कों का जखीरा जमा रहता है। ऐसा लगता है कि सबूत जुटाकर वह अन्याय करने के अभियान पर निकला है। इसी मानसिकता को बदलने के लिए बार-बार संजीवनी आंदोलन करने की मुखरता मुक्तिबोध की कविता का वह प्रधान केन्द्र बिन्दु है, जहां विश्व-प्रतिभा के दर्शन होते हैं। जब इसके दर्शन होते हैं, तभी जाकर वह आदमी दूसरे आदमी को आदमी समझ पाता है। 'चांद का मुंह टेढ़ा है' शीर्षक कविता में इसी आदमी को पूरी तरह स्थापित करते हुए कवि मुक्तिबोध ने बिल्कुल सही लिखा है कि प्रतिवाद कविता ही पोस्टर बनती है; यथा– "प्रतिरोधी कविता/बनते हैं पोस्टर/जमाने के पैगंबर!!/आसमान थामते हैं कंधों पर/हड़ताली पोस्टर,/कहते हैं आदमी की दर्दभरी गहरी पुकार सुन/जो दौड़ पड़ता है वह भी/जैसे तुम भी आदमी, वैसे मैं भी आदमी।' आदमी को जानना और उसे आदमी की तरह पेश करना बड़ी कोशिश है। यह एक तरह से वैचारिक संघर्ष है। इस संघर्ष का ऐतिहासिक संदर्भ होता है। ऐतिहासिक संदर्भ के बिना किसी संघर्ष को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता है। जब संघर्ष जारी रहेगा, तभी आसमान की कालिमा से उजाला चुएगा। इसी उजाला को लाने से हीन समाज की जड़ता गायब हो सकती है। इसी कविता में मुक्तिबोध ने लिखा है– 'समय का कण-कण/गगन की कालिमा से/बूँद-बूँद चू रहा/तडित्-उजाला बन।'इस कविता की समीक्षा विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से की है। जरूरत इस बात की है कि इस कविता को इस डिजिटल युग के संदर्भ में देखना जरूरी है। इस डिजिटल युग ने यह साबित कर दिया कि चांद का मुंह टेढ़ा है, तभी तो चांद पर घर बनाकर रहने की खोज शुरू हुई है। धरती

Scanned with CamScanner

पर जिसने रहना नहीं सीखा है, अब उसने चांद को गंदा करने का अभियान शुरू किया है। इसी सच को मुक्तिबोध ने संवेदनात्मक ज्ञान के जरिये उपस्थित करने का प्रयास किया है।

**पहचाना आदमी का साहस :**

आदमी कुछ भी कर सकता है। आदमी के पास ज्ञान ही नहीं होता है, वह हिम्मत का भी अधिकारी है और उसे स्वप्न देखने आता है। स्वप्न शायद कोई देख सकता है, उसे हकीकत में बदलना आदमी ही जानता है। इसलिए वह अर्थ के अनर्थों को बदल सकता है, उसे तोड़ सकता है। यदि इस दृष्टि से मुक्तिबोध की कविता : 'शब्दों का अर्थ जब' पर नजर दी जाये, तो स्पष्ट हो जाता है कि शब्दों के अर्थ के अनर्थों को बदलना अति आवश्यक है। शब्दों के अर्थ-अनर्थों को भुलाने की कोशिशें सदा होती रहीं। युग बदल जाता है, पर आदमी के जीवन में वह बदलाव नहीं आता, जो बदलाव आना चाहिए था, क्योंकि शब्दों के अर्थ-अनर्थों को अपने हित में साधने वालों ने 'महाप्रभु शब्दों के अर्थ के दांत और होठ ही को; अपनी तीक्ष्ण दृष्टि को बरकरार नहीं रखा बल्कि दांत और होठ की क्रिया-प्रतिक्रिया पर इस तरह नजर डालने का प्रयास किया है; यथा : 'शब्दों का अर्थ जब/अपने ही दाँतों से/अपने ही घावों को/काटे और जूम जाए/झूठलाती झूठी-सी/निंदा के होठों को/चाटे और झूम जाए--/शब्दों का अर्थ जब।'

इस तरह कवि मुक्तिबोध ने अंधेरे में रास्ता तलाशने का काम किया है। रास्ता तलाशते-तलाशते कवि मुक्तिबोध एक नये क्षितिज के पास पहुँचते हैं। वह नया क्षितिज भारतीय परंपरा का ऐतिहासिक उन्मेष है, जो अपने नये रंग और रूप में उपस्थित होता है। पर इस उन्मेष का जितना आदर करना चाहिए, उतना आदर नहीं हो पाता है। बनाये सूत्रों के आधार पर इस उन्मेष का विश्लेषण नहीं हो पाता है। विश्लेषण करने नयी रोशनी चाहिए; कहां से आयेगी नयी रोशनी? इस सवाल का जवाब चंद जुमलों नहीं दिया जा सकता है, इसके लिए उत्सर्ग की भावना चाहिए। जब तक उत्सर्ग भावना नहीं होगी, तब तक आगे बढ़ना मुश्किल है। रटंत विद्या से युद्ध नहीं लड़ा सकता है। किला फतह करने के लिए शब्दों के अर्थ के अनर्थों के अन्याय को बदल की ताकत मुक्तिबोध की कविता में है; क्या किसी आलोचक ने मुक्तिबोध कविताओं में बदलाव का जो आह्वान है, उस आह्वान को नकारने की कोशिश की

Scanned with CamScanner

किस आलोचक में इतनी हिम्मत है कि मुक्तिबोध के रचनात्मक संघर्ष को चुनौतियां दे। मुक्तिबोध के रचनात्मक संघर्ष को उन आलोचकों द्वारा चुनौतियां न देना ही उन आलोचकों की सीमाएं हैं, जिन सीमाओं को तोड़ने की ताकत उन आलोचकों में नहीं है। सही अर्थों में मुक्तिबोध ने अपने रचनात्मक संघर्ष के जरिये मानव-सत्ता का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन-मनन ने एक दिशा का निर्धारण किया है, जो दिशा भारतीयत्व की असीमता की ओर संकेत देती है। यह असीमता मुक्तिबोध की साहित्यिक-यात्रा में विद्यमान है। यह सच है कि कविता का अध्ययन-विश्लेषण काल-सापेक्षता की दृष्टि से होना चाहिए, क्योंकि रचनाकार काल सापेक्ष होता है। काल-सापेक्षता ही किसी रचनाकार के संघर्ष का वह आधार है, जिस आधार के जरिये सारी कुरीतियों-कुप्रथाओं को ललकारना सहज हो जाता है। इसलिए मुक्तिबोध ने जिंदगी की राह खोजने की चेष्टा करते हुए 'पिता नहीं....' शीर्ष कविता की रचना प्रस्तुत की है; 'अतापता नहीं, कब, कौन, कहाँ, किस ओर मिले,/किस सांझ मिले,/किस सुबह मिले!!/यह राह जिंदगी की।' कवि मुक्तिबोध ने जिंदगी को चार सवालों के बीच घेरने का मनमोहक दृश्य प्रस्तुत किया है। इन सवालों को कब-कौन-कहाँ-किस नामक चतुर्भुज के बीच रखते हुए मुक्तिबोध ने यही बतलाया है कि जिंदगी न आयत है और न वर्ग है; यह एक चतुर्भुज हैं, जिसकी एक भुजा, दूसरी भुजा से अलग है। कभी वह चतुर्भुज आयत या वर्ग नहीं बन पायेगा। जिंदगी कभी भी सरल रेखा पर नहीं बढ़ सकती है। जिंदगी में यदि किसी ओर से मानसिक आघात दिया जाता है, तो वह सबसे अपना होता है। वह निजी घाव है। कार्यस्थल पर निजी घाव सबसे अधिक मिलता है। इस घाव को सहना और उसके दर्द को ताकत के रूप में संचित करना ही वह क्षमता है, जिस क्षमता के जरिये नयी सुबह की प्रतीक्षा की जा सकती है। इसी प्रतीक्षा से आत्मीय की छवि है, जो लगातार भटकती है, पर चाहे वह छवि जितनी भटकाये; एक न एक दिन निश्चित तौर पर कहीं-न-कहीं मिलना है। पर कब कहां मिलना है, यह कहना कठिन है। यही कठिनाई मानव-सभ्यता के रहस्य को ओढ़ी रहती है। पर याद रखने की जरूरत है कि मुक्तिबोध की कविता रहस्य से कोसों दूर है। उनकी कविताएं यथार्थ की जमीन पर तैयार होती हैं; इसलिए पूरी सार्थकता के जरिये मुक्तिबोध ने आधे-अधूरे वाक्यों में पूर्णता की बानगी पेश की है। इसी कविता में मुक्तिबोध ने लिखा है- 'आत्मीय एक छवि तुम्हें नित्य भटकाएगी/जिस जगह, जहां जो छोर मिले/ले जायेगी....'/... पता नहीं,

Scanned with CamScanner

कब, कौन, कहाँ किस ओर मिले।' मुक्तिबोध का भावलोक असाधारण के लि
साधारण है और सहज के लिए असहज है। उन्होंने समाज में आत्मीय को खोजा है,
सदा शायद उनसे दूर है। क्या सचमुच इस समाज में कोई अपना भी होता है?
सवाल पर जब-जब विचार किया जायेगा, तब-तब यही लगता है कि शायद ही
अपना हो, फिर भी जीना पड़ता है।

**पक्षधरता की प्रासंगिकता :**

मुक्तिबोध की कविताओं में पक्षधरता और प्रतिबद्धता का अद्‌भुत समन्वय
है। जो पक्षधरता की वकालत करता है, वही प्रतिबद्धता का सही अर्थ समझ सकता
प्रतिबद्धता के बिना पक्षधरता का सवाल उठ ही नहीं सकता है। पक्षधरता जिंदगी
सतह देती है, जिसे प्रतिबद्धता शाश्वत प्रासंगिकता देती है। इसके बावजूद जिंदगी
कोई कोना अधूरा रह जाता है। वह रिक्त क्यों हो जाता है? उस रिक्तता के पीछे
कारण हो सकते हैं? इस तरह के अजस्र प्रश्न हैं, जो प्रश्न धीरे-धीरे एक बयान बन
हैं। प्रश्न को बयान बनाने का कमाल यदि नहीं दिखता है, तो वह मुक्तिबोध
कविताएँ ही हैं। मुक्तिबोध ने 'मैं तुम लोगों से दूर हूँ' शीर्षक कविता में लिखा है-'तु
लोगों से इतना दूर हूँ/तुम्हारी प्रेरणाओं से मेरी प्रेरणाएं इतनी भिन्न हैं/कि जो तुम्हारे लि
विष है, मेरे लिए अन्न है।' इस कविता में मुक्तिबोध ने उद्‌घोष किया है कि इस पू
दुनिया को साफ करने के लिए मेहतर की जरूरत है। मेहतर बनना कोई नहीं चाहता
हर किसी को मठाधीश बनने की गरज है। पर मठाधीश बनकर इस दुनिया को नहीं
बदला जा सकता है। इस दुनिया को परिष्कार करने के लिए मठाधीश नहीं मेहतर
चाहिए। मेहतर वही बन सकता है, जो हर काम के बीच समानता देखने की कोशिश
करता है। खरा आदमी मेहतर बन सकता है।

मुक्तिबोध ने इस कविता में लिखा है; 'इसलिए कि जो है उससे बेहतर चाहिए पू
दुनिया साफ करने के लिए मेहतर चाहिए/वह मेहतर मैं हो नहीं पाता/पर, रोज कोई
भीतर चिल्लाता है/ कि कोई काम बुरा नहीं/बशर्ते कि आदमी खरा हो/फिर भी मैं उस
ओर अपने को ढो नहीं पाता।' मुक्तिबोध ने सच को सबसे महती मानने की चेष्टा नहीं
की है, उसे स्थापित करने पर भी जोर दिया है। जो पीड़ाओं से घिरा है, जिसने भाव-
शून्य-चित्त-शून्य होने के आनंद को हासिल कर लिया है, उसने सच को समझ लिया

Scanned with CamScanner

है। दर असल पीड़ाओं को क्रम में रखने और देखने की चेष्टा ही सत्य को यथार्थ से मिलाने का प्रयास है। इस प्रयास के अंतर्गत मुक्तिबोध ने इसी कविता में उल्लेख किया है : 'शून्यों से घिरी हुई पीड़ा ही सत्य है/शेष सब अवास्तव अयथार्थ मिथ्या है भ्रम है/ सत्य केवल एक जो कि/दुःखों का क्रम है।' क्या एक आदमी को सिर्फ किसी दूसरे आदमी की आज्ञाओं को ढोना चाहिए या अपने जाग्रत विवेक के जरिये उन आज्ञाओं की पड़ताल करने पर जोर देना चाहिए; जैसा कि मुक्तिबोध ने लिखा है–'इसलिए कि जो है उससे बेहतर चाहिए/पूरी दुनिया साफ करने के लिए मेहतर चाहिए/वह मेहतर मैं हो नहीं पाता/पर, रोज कोई भीतर चिल्लाता है/कि कोई काम बुरा नहीं/बशर्ते कि आदमी खरा हो/फिर भी मैं उस ओर अपने को ढो नहीं पाता।' यदि इसी तरह आज्ञा ढोने का सिलसिला जरी रहेगा, तो कवि का 'मैं' हमेशा 'तुम लोगों' से दूर रहेगा।

**सुनी धरती पर चीख :**

इस वर्ग विभाजित समाज में 'तुम लोगों' की आँखों में आँखें डालकर कितने लोगों के पास बोलने की हिम्मत है। इस हिम्मत से ही सतह का निर्माण होता है। सतह का निर्माण वास्तविकता की जमीन पर होता है। जब 'तुम लोगों' से दूर रहने की ताकत अर्जित की जायेगी, तभी जाकर जानलेवा शिविर पर हल्ला बोलना सहज हो सकता है। इस सहजता के लिए कठिन पथ अख्तियार करना हर किसी के बस की बात नहीं है। वर्ग-विभाजित समाज में व्याप्त संघर्ष को वही तेज कर सकता है, जिसे मेहतर बनने की ख्वाहिश है। यह सिर्फ कहने से नहीं होता है, इसके लिए आलोचना के सभी मानदंडों को बदलना प्रयोजनीय है। यह प्रयोजनीयता धरातल पर उतरने से संभव है। ऐसा लगता है कि मुक्तिबोध ने पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक मेहतर को बुलाने का आह्वान किया है, इसलिए कि पूरी दुनिया को परिष्कार करने की जरूरत है। इस कविता में मुक्तिबोध ने समाज की विकासधारा को जनधारा से जोड़ने की कोशिश की है। यह काम वही कर सकता है, जिसने धरती की चीख को सुना है।

मुक्तिबोध ने इस चीख के शब्द का एहसास किया है, तभी उनकी कविताओं में बेचैनी देखने को मिलती है। इस बेचैनी के बिना आगे बढ़ना सहज नहीं होता है। मुक्तिबोध ने इस सत्य को अपनी कविता 'एक अरूप शून्य के प्रति' में इस तरह प्रस्तुत किया है; यथा– 'धरती की चीखों के शब्द/पंखदार कीड़ों से बेचैन/तुम्हारे कानों के बालों

Scanned with CamScanner

पर बैठते/भिनभिनाते चक्कर काटते/अटूट है लेकिन नींद,/खुली–आँख लगातार नींद।' इसी कविता में उन्होंने आगे लिखा है– 'बिलकुल झूठी है सठियायी/कीर्ति यह तुम्हारी।' कीर्ति झूठी क्यों बन जाती है, इस जिज्ञासा को भी उन्होंने बड़ी मार्मिकता के साथ व्यक्त करने की कोशिश की है। कीर्ति तभी महान बन पायेगी, जब उस कीर्ति से मेहतर की भुजाओं में ताकत आये तथा मेहतर के सिर आसमान में सीधे दिखे, यदि सिर झुक गया, तो यही समझना चाहिए कि किसी कीमत पर भगवान राम की शबरी की याद नहीं आ सकती है, जैसे कि मुक्तिबोध ने लिखा है– 'पीली–पीली चिंता के अंगारों– जैसे पर,/ मुझे याद आती भगवान राम की शबरी,/मुझे याद आती है लाल–लाल जलती हुई ढिबरी/मुझे याद आता है मुझे प्यारा–प्यारा देश,/लाल–लाल सुनहला आवेश।'

एक रचनाकार को कदम–कदम पर घिरा देखा जाता है। जो मान–सम्मान पाने की दृष्टि से लगातार दर–दर भटकता है, जिसके नाखून लम्बे हो गए हैं ऐसे रचनाकारों को कदम–कदम पर गतिरोध का सामना करना पड़ता है, क्योंकि ऐसे रचनाकारों को विषय नहीं मिलता है। वे रचनाकार ऐसे विषय की तलाश करते हैं कि उन्हें पुरस्कार मिल जाये; क्या कविता की सार्थकता सिर्फ पुरस्कार तक सीमित है? जिस रचनाकार के नाखून और जीभ लम्बे हैं, वे रचनाकार विषय का चुनाव नहीं कर पाते और जब विषय का चुनाव ही नहीं होगा, तब भला क्या लिखेंगे; खाक लिखेंगे, क्योंकि आग पैदा करने की क्षमता उस तरह के रचनाकारों में नहीं होती है। उन रचनाकारों को कदम–कदम पर किस तरह देखा जाता है। इसके सम्बन्ध में उन्होंने सही लिखा है,यथा– 'और, मैं सोच रहा कि/जीवन में आज के/लेखक की कठिनाई यह नहीं कि/कमी है विषयों की वरन यह कि आधिक्य उनका ही/उसको सताता है,/ और, वह ठीक चुनाव नहीं कर पाता है!!' यही कारण है कि मुक्तिबोध ने अंतःकरण के आयतन का भी उल्लेख किया है। इस आयतन पर रौशनी डालते हुए मुक्तिबोध ने 'अंतःकरण का आयतन' शीर्षक कविता में जिक्र किया है– 'बिना संहार के, सर्जन असंभव है;/असंभव झूठा है,/जब सूर्य फुटेंगे/ व उनके केंद्र टूटेंगे/उड़ेंगे खंड/बिखरेंगे गहन ब्रह्माण्ड में सर्वत्र/उनके नाश में तुम योग दो!!'

**जनपदीय भाषाओं की समन्वयात्मक शक्ति :**

मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में जनपदीय भाषा को स्थापित करने की भी

Scanned with CamScanner

कोशिश की है। सिर्फ यह मामला स्थापन तक ही सीमित नहीं रहता है बल्कि ध्यान से सुनने की भी वकालत करता है। मुक्तिबोध ने इस कविता में उल्लेख किया है– 'नक्षत्र-तारक-ज्योति-लोकों में घुमा ले जाएगा सर्वत्र/रथ के यंत्र सब मजबूत हैं/उन प्रश्न-लोकों में यहाँ की बोलियां/तुमको बुलाती हैं/कि उनको ध्यान से सुन लो/'किसके पास कितना समय है कि ध्यान से सुने और सुनने के बाद भी क्या होगा; मकसद व्यक्त करने से पहले ही फतवा जारी करना समाज की विकासधारा को रोकने की कुचेष्टा है। इस कुचेष्टा पर वही प्रहार कर सकता है, जिसके पास विजन है। विजन के बिना दोस्त-दुश्मन की पहचान असंभव है। इस असंभव कार्य को वही निर्णायक मोड़ दे सकता है, जो 'उनके' केन्द्र के टूटने पर पूरा भरोसा रखता है। सचमुच मान-जीवन भरोसे पर निर्भर है।

'एक अंतरकथा' मुक्तिबोध की ओजभरी कविता है। इस कविता में अग्नि के अधिष्ठान को पहचानने पर जोर दिया गया है। उनकी यह एक ऐसी कविता है, जिस कविता में तत्सम के साथ-साथ तद्भव शब्द का बेहतरीन प्रयोग हुआ। इस कविता की शुरूआत 'माँ' के कहने के साथ होती है, जो कल्याणकारी करुणा की तलाश करती है। सूखी टहनी में जब आग रखने की क्षमता हो सकती है, तब भला जनता में विद्रोहात्मक चेतना का प्रसार क्यों असंभव है। इसी जिज्ञासा का हिसाब-किताब लगाते हुए मुक्तिबोध ने इस आधुनिक सभ्यता को एक जंगल के रूप में व्यक्तित्व-वृक्ष को देखने का प्रयास किया है। वृक्ष सुविधावादी है। क्या उस वृक्ष की टहनी सूख गयी है? इस सवाल का जवाब मुक्तिबोध ने इस प्रकार दिया है– 'माँ कहती–/सूखी टहनी की अग्नि क्षमता/ही गति है पक्षी स्वर में/वह बंद आग है खुलने को/' क्या कारण है कि व्यक्तित्व वृक्ष की कोमल टहनियां मर गयीं? इस बारे में मुक्तिबोध ने बताया है–

'आधुनिक सभ्यता के वन में/व्यक्तित्व-वृक्ष सुविधावादी/कोमल-कोमल टहनियां मर गयीं अनुभव-मर्मों की/यह निरूपयोग के फलस्वरूप हो गया/अंतर्जीवित के मूल्यवान जो संवेदन/उनका विवेकसंगत प्रयोग हो सका नहीं/कल्याणमयी करुणाएं फेंकी गयीं/रास्ते पर कचरे जैसी,/मैं चिह्न रही उनको।' जब कवि मुक्तिबोध ने विवेकसंगत प्रयोग की चर्चा की है, तब उनकी कवि-भावना यही कहेगी कि आखिर समस्याएं कैसे उत्पन्न होती हैं और उनके क्या कारण है; यथा– 'है दर्द बहुत रीढ़ में/

Scanned with CamScanner

पसलियां गिर रहीं/पांव में जम रहा खून/द्रोह करता है मन/मैं जन्मा जब से इस साले ने कष्ट दिया/उल्लू पर पट्ठा कंधे पर है खड़ा हुआ।' मन का द्रोह जायज है; क्योंकि इसके चलते ही 'पूर्वाकृति' को पाया जा सकता है, जैसा कि उन्होंने इसी कविता में लिखा है– 'मैं पूर्वाकृति में आ जाता,/बस, चाय एक कप मुझे गरम कोई दे दे/ऐसी-तैसी उस गौरव की/जो छीन चले मेरे सुविधा/मित्रों से गैप करने का मजा और ही है।' मुक्तिबोध का मानना है कि अग्नि के अधिष्ठान को पहचाने बिना अग्नि भिक्षा ग्रहण करना मुश्किल है; यथा– 'तब देव बिना अब जिप्सी भी/केवल जीवन-कर्तव्यों का/पालन न हो सके इसलिए/निज को बहकाया करता है/चल इधर, बिन रुखी टहनी/सूखी डालें,/भूरे डंठल, पहचान अग्नि के अधिष्ठान/जा पहुँचा स्वयं के मित्रों में/कर ग्रहण अग्नि भिक्षा/लोगों से पड़ोसियों से मिल।'

'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' शीर्षक में मुक्तिबोध ने एक भूतपूर्व विद्रोही के आत्मकथन के जरिये यह सिद्ध किया है कि विद्रोही भावना को स्थापित करना तथा उसके अनुकूल आबोहवा तैयार करना जरूरी है। इस आत्म-कथन में दरअसल आत्मालोचन है। वह विद्रोह जरूरी था या नहीं–इस सवाल पर भी विमर्श किया गया है। किसी का ध्वंस होना या ढह जाना गैरवाजिब नहीं है; जैसा कि इसी कविता में कहा गया है– 'पुराना मकान था, ढहना था, ढह गया,/बुरा क्या हुआ/बड़े-बड़े दृढ़ाकार दम्भवान खम्भे वह ढह पड़े!! जड़ीभूत परतों में, अवश्य, हम दब गए।/ हम उनमें रह गए,/बुरा हुआ, बहुत बुरा हुआ!!' जब रास्ता नहीं मिलता है,तभी कोई बागी बनता है। बागी बनने से रास्ता ही रास्ता दिखने लगता है। इस कविता में मुक्तिबोध ने लिखा है– 'क्योंकि हम बागी थे,/उस वक्त,/जब रास्ता कहाँ था?/दीखता नहीं था कोई पथ।/अब तो रास्ते-ही-रास्ते हैं!! मुक्ति के राजदूत सस्ते हैं?

**क्यों उजड़ता चिड़ियों का घोंसला :**

हर बागी को पता होता है कि क्या होने वाला है; खत्म तो चूहे को ही होना पड़ता है। चिड़ियों का घोंसला उजड़ता है; प्रस्तुत है मर्मभेदी संवेदना का दृष्टान्त– 'वह चिड़िया का उसका वह घोंसला····/न जाने कहाँ दब गया।/अंधेरे छेदों में चुहे भी मर गए,/हमने तो भविष्य/पहले तो कह रखा था कि–/केंचुली उतारना साँप दब जाएगा अकस्मात····/हमने तो भविष्य पहले कह रखा था। मुक्तिबोध ने बागी बनने पर जोर देते हुए यह भी बताया

कि पूरी तल्लीनता के साथ बागी बनना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है, तो हवेली गिर पड़ेगी। इसके गिरने से कुछ बुरा नहीं होगा। यथा– 'ऐसा मकान यदि ढह पड़ा/हवेली गिर पड़ी/महल धराशायी, तो/बुरा क्या हुआ?/ठीक है कि हम भी तो दब गए,/हम जो विरोधी थे/कुओं-तहखानों में कैद-बंद,/लेकिन,हम इसलिए/मरे कि जरूरत से ज्यादा नहीं, बहुत-बहुत कम/हम बागी थे!! सोचो तो/कि स्पंद अब···पीड़ाभरा उत्तरदायित्व भार हो चला,/कोशिश करो,/जीने की,/जमीन में गड़कर भी/विद्रोही बनने की असीम आकांक्षा का एक उदाहरण इन पंक्तियों में देखा जा सकता है– 'सही है कि हम पहचाने नहीं जायेंगे।/दुनिया के नाम कमाने के लिए/कभी कोई फूल नहीं खिलता है/हृदद्यानुभ-राग अरुण/गुलाबी फूल, प्रकृति के गंध कोष/काश, हम बन सकें!'

'इसी बैलगाड़ी को' शीर्षक कविता में मुक्तिबोध ने बैलगाड़ी के प्रतीक के जरिये युगीन सच्चाइयों को प्रस्तुत किया है। यह बैलगाड़ी कोई भी हांके, वह अपनी गति से चलेगी हालांकि आबोहवा का फर्क दिखेगा। इस फर्क को समझने वाला व्यक्ति ही अमीर-गरीब की दूरी को समझ सकता है। बैलगाड़ी यदि एक है, तो हाँकनेवालों के बीच फर्क भी एक है। यथा– 'बैलगाड़ी एक है/और वही हाँकना/सिर्फ एक फर्क है/फर्क आबोहवा का।' यह बैलगाड़ी अंधेरी ऊँचाई पर किस तरह बढ़ती है, इसका जिक्र इस प्रकार हुआ है– 'चाहे धनी या गरीब हों–/उन्हें खूब चाहते/इसीलिए पहाड़ी चढ़ान की/अंधेरी ऊंचाई पर/घुँघरू बजाते हुए बढ़ते हैं/बढ़ते अटक-अटक/जितनी ऊंचाई हो/अधः पतन उतना ही सहज है/परिचित भी राह हो/अंधेरी ऊँचाई में लगती अपरिचित।' युगीन सच को लाजबाब ढंग से मुक्तिबोध ने प्रस्तुत किया है, जो किसी की समझ में आ सकता है–'क्योंकि दुर्घटना/अंधेरी ऊँचाई के मोड़ पर/अवश्य-होती सी लगती है/और बैलगाड़ी के पहिये भी बहुत बार/ठीक यहीं टूटते/होती है डाकेजनी/चढ़ाव अंधेरी पर/इसलिए रायफले संभाले/सावधान चलते हैं/चलना ही पड़ता है/क्या करें/जीवन के तथ्यों के/सामान्यीकरणों का/करना ही पड़ता हमें असामान्यीकरण।'

जब तक बुरे और बुराई के चेहरे पता नहीं चलेंगे, तब-तक उनसे घृणा करना कठिन है और यदि घृणा नहीं की जायेगी, तो भय पीछा करेगा, तब दुःख होना स्वाभाविक है। शत्रु से घृणा करना ही सबसे बड़ा हथियार है। भय के कारणों को स्पष्ट रूप से पहचानना जरूरी है, ताकि बुराई का चेहरा सामने आ सके। यथा– 'दुख तो यही

Scanned with CamScanner

कि तुम्हें भय!! किससे भय?/सुविदित रूप से नहीं ज्ञात/सुस्पष्ट रूप से नहीं पहचानते हो/बुरे का, बुराई का चेहरा/इसलिए घृणा न कर सकोगे।' मौलिक वेदना में जो खुश है, क्या वह जमाने का असल चूहा है? क्या सचमुच पिंजरे से बाहर निकलने का रास्ता उसे मालूम नहीं है? मुक्तिबोध ने लिखा है– 'लगा लिए खोज लिए जाते हैं/गिरफ्तार चूहा क्यों भागता है लगातार/पिंजरे की चक्रव्यूह गलियों में बेचैन/(बाहर भाग सकने की बुद्धि ही नहीं है) यही एक मौलिकता/वह इस मौलिक वेदना से खुश वह/अंधा वह संवेदना मुक्ति की खोज का।'सच को झूठ को दबाने की कोशिश किस तरह होती है, इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है– 'गलत कारण गलत सूत्र,/गलत स्रोत प्रस्तुत करते हुए/सिद्ध करना चाहते हो कि हम बुलकुल गलत हैं/हमारा चलना गलत/गलत अस्तित्व ही!!' आखिर समर्थन करने वाले क्यों समर्थन करते हैं; जब कि उसे मालूम है कि इस सभ्यता की मृत्यु जरूर होगी। इस समर्थन पर कवि मुक्तिबोध ने आश्चर्य प्रकट किया है, इसलिए उन्होंने लिखा है– 'देखते ही अनिवार्य/मृत्यु इस सभ्यता की/जिसका तुम जाने-अनजाने नित/करते हो समर्थन!!' यही कारण है कि मित्र भी शत्रु समझने लगते हैं। मित्र-शत्रु को नये अंदाज में पेश करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है; 'इसलिए तुम हमें/सबसे बड़े शत्रु समझते हो!! क्षमा करो, तुम मेरे बंधु और मित्र हो/इसलिए सबसे अधिक दुखदायी/ भयानक शत्रु हो।'

मुक्तिबोध ने 'सहर्ष स्वीकारा है' शीर्षक कविता में 'प्यारा' शब्द का अचूक प्रयोग किया है; जैसा कि उन्होंने उल्लेख किया है; 'अब तक तो जिंदगी में जो कुछ था, जो कुछ है/सहर्ष स्वीकारा है/इसलिए कि जो कुछ भी मेरा है/वह तुम्हें प्यारा है।' मानवीय संवेदना को प्रस्तुत करते हुए मुक्तिबोध ने 'बहुत दिनों से' शीर्षक में जिक्र किया है। यथा– 'मैं बहुत दिनों से बहुत-बहुत-सी बातें/तुमसे चाह रहा था कहना!/ जैसे मैदानों को आसमान,/कुहरे कि, मेघों की भाषा त्याग/विचारा आसमान कुछ/रूप बदलकर कहे।' पंखुड़ियों के शहीद होने पर कवि मुक्तिबोध ने जो बिम्बात्मक चित्र खींचा है; वह चित्र इस प्रकार है– 'बहुत शर्म आती है मैंने/खून बहाया नहीं तुम्हारे साथ/बहुत तड़पकर उठे वज्र-से/गलियों के जब खेतों-खलिहानों के हाथ/बहुत खून था छोटी-छोटी पंखुड़ियों में/जो शहीद हो गई किसी अनजाने कोने/कोई भी न बचे,/केवल पत्थर रह गए तुम्हारे लिए अकेले रोने।'

Scanned with CamScanner

प्रभात भैरवी के चलते किस तरह पुकार खो जाती है, इसका एक ताजा उदाहरण इस तरह है, जिसका मुक्तिबोध ने 'मुझे पुकारती हुई पुकार' में उल्लेख किया है। प्रस्तुत हैं छह पंक्तियां : 'मुझे पुकारती हुई पुकार को गयी कहीं·····/प्रलंबिता अंगार रेखा-सा खींचा/अपार चर्म/वक्ष प्रणा का/पुकार खो गई काही बिखेर अस्थि के समूह/जीवनानुभूति की गंभीर भूमि में।' इसी कविता में उन्होंने आगे लिखा है–'मुझे पुकारती हुई पुकार खो गई वहीं/सँवारती हुई मुझे/उठी साहस प्रेरणा।/प्रभात भैरवी जागी अभी-अभी।' कवि मुक्तिबोध ने उदास लालटेन का चित्र खींचते हुए 'रात', चलते हैं अकेले ही सितारे' शीर्षक कविता में लिखा है– 'अपना धैर्य पृथ्वी के हृदय में रख दिया था/धैर्य पृथ्वी के हृदय में रख लिया था/उतनी भूमि पर है चिरंतन अधिकार मेरा,/जिसकी गोद में मैंने सुलाया प्यार मेरा।/आगे लालटेन उदास,/पीछे, दो हमारे पास साथी/केवल पैर की ध्वनि के सहारे/राह चलती जा रही थी।' 'मैं उनका ही होता' कवि मुक्तिबोध की एक व्यावहरिक कविता है, जिसमें उन्होंने ओछेपन-छिछलेपन को नया रंग दिया है– 'मैं ऊँचा होता चलता हूँ/उनके ओछेपन से गिर-गिर उनके छिछलेपन से खुद-खुद,/मैं गहरा होता चलता हूँ।'

❑

Scanned with CamScanner